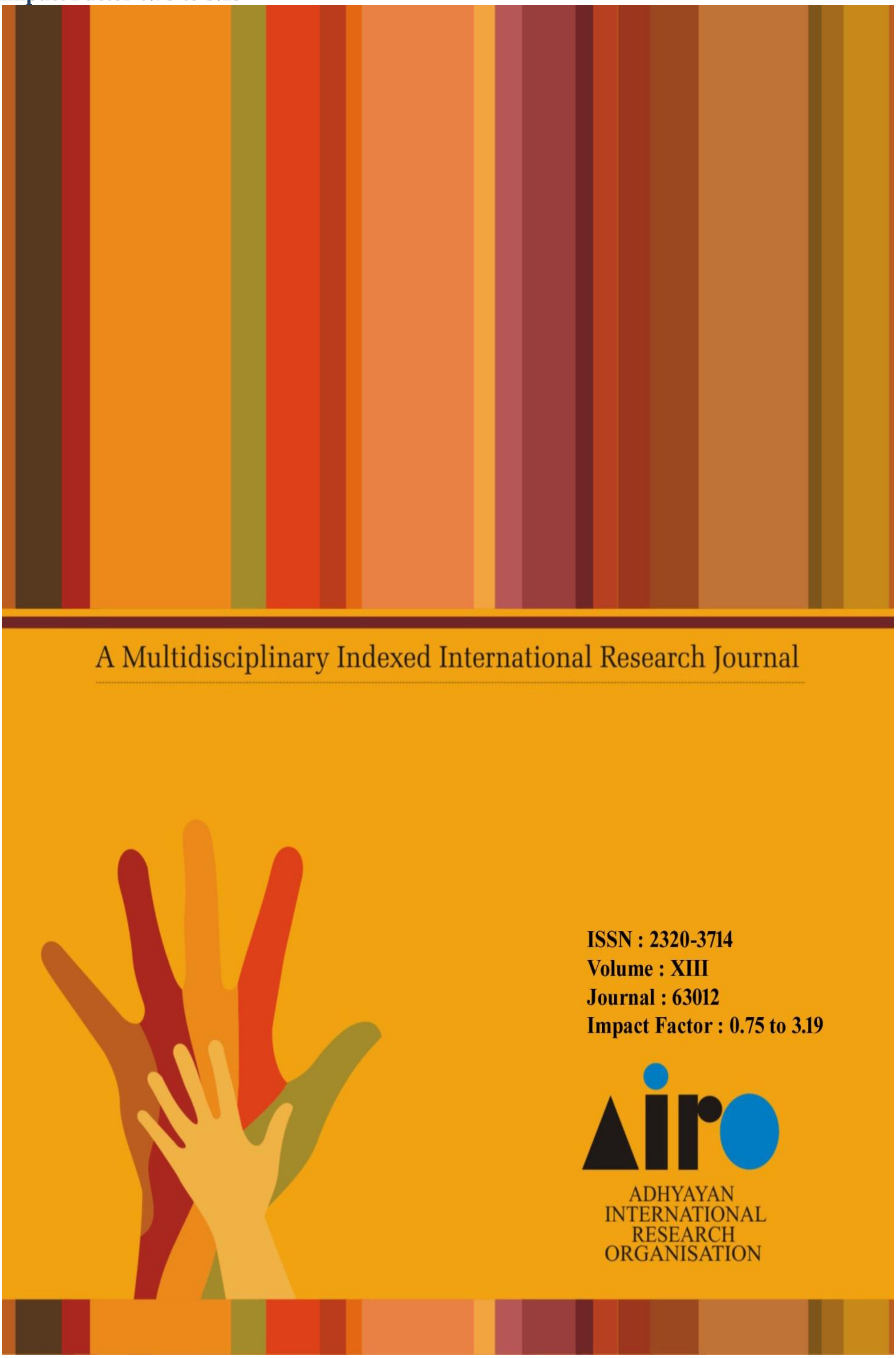
A Multidisciplinary Indexed International Research Journal
ISSN : 2320-3714
Volume : XIII
Journal : 63012
Impact Factor : 0.75 to 3.19
Airo
ADHYAYAN
INTERNATIONAL
RESEARCH
ORGANISATION

गीता में कर्मयोग

डॉ. सरोज गुप्ता

Declaration of Author: I hereby declare that the content of this research paper has been truly made by me including the title of the research paper/research article, and no serial sequence of any sentence has been copied through internet or any other source except references or some unavoidable essential or technical terms. In case of finding any patent or copy right content of any source or other author in my paper/article, I shall always be responsible for further clarification or any legal issues. For sole right content of different author or different source, which was unintentionally or intentionally used in this research paper shall immediately be removed from this journal and I shall be accountable for any further legal issues, and there will be no responsibility of Journal in any matter. If anyone has some issue related to the content of this research paper's copied or plagiarism content he/she may contact on my above mentioned email ID.

कर्मयोग प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य का मार्ग है। कर्म शब्द 'कृ' धातु से निष्पन्न है, इसका अर्थ है करना या व्यापार। कर्म के साथ योग (युज् + घ) दो वस्तुओं या ईश्वर एवं जीव को एक में मिलने का नाम योग है। फल और तन्मूलक आसक्ति को त्यागकर ईश्वर की आज्ञानुसार केवल समत्वबुद्धि से कर्म करने का नाम निष्काम कर्मयोग है। अद्य हम गीता के कर्मयोग पर विचार करते हुए आज उसकी प्रासंगिकता पर विचार करेंगे।

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान कृष्ण अर्जुन को कर्म के फल की इच्छा को त्याग कर कर्म करने का आदेश देते हैं–

''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।''[1]

अर्थात् तुझे केवल कर्म करने का ही अधिकार है, उनके फल पर नहीं। तेरा उद्देश्य कर्म का फल कभी न हो, और वही अकर्म के प्रति तुम्हारा स्नेह हो।

यहाँ कर्मयोग का मूल मंत्र बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्त्तव्य को कर्म समझ कर करना चाहिए, क्योंकि फल की इच्छा से किया गया कर्म मनुष्य के लिए पाप और पुण्य का कारण बनकर उसको भोगने के लिए जन्म और मरण रूपी बंधन का कारण बनता है। यदि वही कर्म कर्त्तव्यबुद्धि से किया जाए तो पाप और पुण्य का कारण नहीं बनता और उन पाप–पुण्यों को भोगने के लिए जन्म और मरण की आवश्यकता नहीं होती। अतः मनुष्य इस बंधन से छूटकर परमलक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। यही कर्मयोग का मूल सिद्धांत है।

जब हम अपना कोई कार्य करते हैं, चिंतन करते हैं और उसके माध्यम से यश या अन्य किसी भी प्रकार के लाभ की आकांक्षा रखते हैं, तो हम निश्चित ही अनासक्ति से विचलित हो जाएंगे। फल के कारण हमारे अन्दर डर पैदा होता है। वही डर हमें कार्य को कुशल रूप में करने में बाधक होता है। इसीलिए श्रीकृष्ण का मत है कि फल प्रेम का त्याग ही कर्मयोग है, सफलता है। इसी को कर्मयोग के केन्द्रीय भाव के रूप में व्यक्त करते हुए कृष्ण कहते हैं–

''योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।''[2]

तू योग में स्थित होकर सभी तरह की आसक्तियों को त्यागकर सफलता असफलता लाभ हानि में मन को समान रखते हुए, अपना कार्य कर क्योंकि मन की समता को ही योग कहते हैं अर्थात् हमें परिणामों के प्रति उदासीन होकर अविचलित एवं शांत भाव से कार्य करना चाहिए। यह भी उल्लेखनीय है कि कार्य–फल के प्रति उदासीनता का यह भाव व्यक्ति की अंतरात्मा से सहज रूप से निःसृत होना चाहिए। गीता में योगी अर्थात् समत्व बुद्धि प्राप्त व्यक्ति के लक्षण को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

''बुद्धिमुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।''

जो साम्य और बुद्धि से मुक्त हो गया है, वह पाप और पुण्य, अच्छे और बुरे दोनों कर्मों से अलिप्त रहता है, अतएव तू योग का आश्रय कर। योग सभी कार्यों को कुशलता से करने का नाम है। एक ही कर्म को करने के अनेक उपाय होते हैं किन्तु उनमें से जो उपाय सर्वोत्तम हो यानि जिसमें उच्च भाव की अभिव्यक्ति हो, उसी को योग कहते हैं। उदाहरण के लिए द्रव्य उपार्जन करना एक कर्म है। इसके अनेक उपाय हैं जैसे चोरी करना, ऋण लेना, भीख माँगना, मेहनत करना आदि। यद्यपि धातु के अर्थानुसार हर एक को योग कहा जा सकता है। किन्तु यथार्थ द्रव्य प्राप्ति योग

उसी उपाय को कहते हैं जिससे हम अपनी स्वतंत्रता से मुक्त होकर परिश्रम करते हुए धनोपार्जन कर सकें। इसके अतिरिक्त कर्म करते समय बुद्धि को स्थिर पवित्र, सम और शुद्ध रखना ही वह कौशल है और इसी को योग कहते हैं।[3] यही तो आधुनिक समय में इसकी प्रासंगिकता है।

कर्मयोग एक अतिविशिष्ट एवं उन्नत अवस्था है। यह कर्म करने की एक ऐसी विधा है, जिसे सफलतापूर्वक परिभाषित भी नहीं किया जा सकता। यह कर्म से विमुखता नहीं है। इसी बात को यों कहा गया है–

''न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्य पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धि समाधि गच्छति।।''[4]

कर्म का प्रारंभ करने से ही किसी व्यक्ति को नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं हो जाती। और न केवल कर्मों के सन्यास से ही उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है। कर्मशून्यता को नैष्कर्म्य नहीं कहा जाता। यदि हम कर्म छोड़ देने का भी विचार करें तो भी जब तक यह शरीर है, तब तक सोना, बैठना आदि कर्म कभी रुक ही नहीं सकते। इसलिए कोई भी मनुष्य कभी कर्म शून्य हो नहीं सकता। परिणामस्वरूप कर्मशून्य रूपी नैष्कर्म्य असंभव है। गीता का सिद्धांत है कि कर्मों में से आसिक्त हटा लेना ही नैष्कर्म्य का एकमात्र उपाय है।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्मों का त्याग करना आवश्यक है? इस प्रश्न का उत्तर भगवद्गीता में इस प्रकार दिया गया है कि सन्यास मार्ग वालों को मोक्ष की प्राप्ति होती है यह बात सच है, किन्तु वह उन्हें कर्मों के त्याग करने से नहीं मिलती, बल्कि मोक्ष प्राप्ति उनके ज्ञान का परिणाम है। यदि केवल कर्मों के त्याग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है तो फिर एक निर्जीव वस्तु पत्थर को भी मुक्ति मिलनी चाहिए। इससे यह बात सिद्ध होती है कि नैष्कर्म्य कर्मशून्यता नहीं है। कर्मों को त्याग देने का कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे परन्तु वे छूट नहीं सकते और यह भी कि कर्मों से पूर्ण सन्यास तो लेना सिद्धि प्राप्त करने का

उपाय नहीं है। **आचार्य विनोबा भावे** इस प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि की समालोचना करते हुए कहते हैं कि हमने यह गलती से सोच रखा है आध्यात्म का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम यह सोचने के अभ्यस्त हो गए हैं कि वह व्यक्ति जो दिन रात जीवन से सक्रिय रूप से जुड़ा है, अपने दैनिक कार्यों को निष्ठापूर्वक करता है – उदाहरणार्थ खेतों पर कार्य करता है और खादी कातता है – वह ईश्वर से जुड़ ही नहीं सकता, उसका ईश्वर से क्या सम्बन्ध? विपरीततः जो भगवान का है, वह जगत का नहीं हो सकता। पर वे यह भूल जाते हैं कि कर्मयोगियों के भगवान श्रीकृष्ण स्वयं सारथि बने, घोड़ों की सेवा की और यदि वे गोकुल पुनः वापिस हो जाते तो वह पहले की ही तरह सामान्य जीवन व्यतीत करते दिखाई देते। पर बाहर से सामान्य दिखने वाली स्थिति भीतर से कितनी भिन्न होती है, यह हम सभी को जानना चाहिए।[5]

अनासक्ति कर्मयोग तभी संभव है जब कार्य की पुष्टि आंतरिक शुचिता से हो, पवित्र मन की पृष्ठभूमि ही में कर्मयोग सम्पन्न हो सकता है : हम बाहर से देखने पर कितने ही बड़े समाज–सेवी क्यों न हों, यह आवश्चयक नहीं कि हम भीतर से भी शुद्ध हों – हृदय की संपूर्ण संकीर्णता जो पारिवारिक जीवन की अनेक विकृतियों का कारण बनती है वह समाज–सेवा की भावना को भी मलिन कर सकती है। और जब दोनों में पूर्ण तादात्म्य होता है तो भीतर बाहर का एक ऐसा अद्भुत ताल–मेल बैठता है कि वह व्यक्तित्व तो धन्य होता है – आस पास का जीवन भी उसके स्पर्श एवं प्रभाव से आलोकित हो उठता है।

यही कारण है कि कर्मयोग को श्रेष्ठ बतलाते हुए कृष्ण अर्जुन को इसी मार्ग का आचरण करने का उपदेश देते हैं–

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणि।।"[6]

स्वधर्म के अनुसार तू नियमित कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है। बिना कर्म किए तो तेरे लिए जीना असंभव हो जाएगा। इसके बाद यह भी बताया गया है कि यद्यपि मुक्त मनुष्य के लिए कर्म या अकर्म द्वारा कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता, और वह आत्मा में स्थित होकर पूर्ण रम्य रूप में सुखी रहता है, फिर भी निष्काम कम एक ऐसी वस्तु है, जिसे वह संसार के कल्याण के लिए करता रहता है। भगवान कृष्ण अर्जुन को अनासक्त होकर सदैव कर्म करने को कहते हैं। वे अनासक्त होकर कर्म करने वाले व्यक्ति के महत्त्व को बताते हुए कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति परमगति को प्राप्त करता है–

''तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः।।''[7]

यहाँ पर आसक्ति रहित होकर किए गए कर्म को यज्ञ की भावना से किए गए कार्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ बतलाया गया है। यज्ञ की भावना से किया गया कार्य अपने आप में स्वार्थ भावना से किये गए कार्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है।

निष्काम कर्म के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए गीता कहती हैं–

''कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।''[8]

राजा जनक तथा अन्य लोगों के कर्म के द्वारा ही पूर्णता प्राप्त की थी। तुम्हें लोक संग्रह अर्थात् संसार को बनाए रखने के लिए भी कर्म करना चाहिए। राजा जनक कर्तृत्व की वैयक्तिक भावना को त्यागकर शासन करता था। लोक संग्रह के लिए कार्य करता था। विश्व को भौतिक कष्ट एवं नैतिक अधःपतन की ओर गिरने से बचाने के लिए तथा सामान्य जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए सामाजिक कर्म का नियंत्रण धार्मिक नीति से होना चाहिए। धर्म का उद्देश्य समाज का आध्यात्मीकरण करना एवं पृथ्वी पर विश्व बन्धुत्व के भाव की स्थापना करना है।

गीता का कर्मयोग इतना महत्त्वपूर्ण है कि स्वयं भगवान कृष्ण अपने कार्यों को इसी कोटि में रखते हैं–

"न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्तते एव च कर्मणि।"[9]

उनका कहना है कि मेरे लिए इन तीनों लोकों में ऐसा कोई भी कर्म नहीं है, जो करना आवश्यक हो और न ही कोई ऐसी वस्तु है, जो मुझे प्राप्त न हो और मुझे प्राप्त करनी शेष हो, इसके बाद भी मैं कर्म ही करता रहता हूँ। भगवान कृष्ण के कर्म तो संपूर्ण सृष्टि का आधार ही है। वे कहते हैं कि चारों वर्णों की सृष्टि, गुण और कर्म के भेद के अनुसार इन्होंने ही की है। वे ही उसको कर्ता भी हैं और अकर्ता भी हैं। यहाँ पर भगवान को अकर्ता इस लिए कहा गया है क्योंकि वे कार्य करते हुए भी अनासक्त हैं। कर्मों का उनके अपरिवर्तनशील अस्तित्व पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। निष्काम कर्म करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण ज्ञान से उत्पन्न एवं स्वार्थ भावना से युक्त सार्वभौम दृष्टिकोण होता है। अतः वह कार्य करते हुए भी वस्तुतः वह अपने लिए कुछ भी नहीं करता। जो न करने के बराबर हैं। इसी बात को गीता यूँ व्यक्त करती है –

"त्यक्त्वा कर्मफलासंग नित्य तृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः।।"[10]

अर्थात् कर्म के फल के प्रति आसक्ति को त्याग कर सदेव तृप्त रहकर, बिना किसी पर आश्रित हुए वह भक्त ही सदैव किसी कार्य में लीन रहे, फिर भी वह वस्तुतः कुछ नहीं करता। क्योंकि कर्तापन के भाव का ही अतिक्रमण कर चुका होता है।

अनासक्त भाव से कर्म करने वाले व्यक्ति का संतुलन बना रहता है, क्योंकि वह इच्छा से उद्वेलित नहीं होता और ईश्वर के साथ एकात्म होकर ही कार्य करता है। इस प्रकार के भाव को प्राप्त करना सच्ची नैष्कर्म्य आसक्ति से मुक्त होना है।

अकर्म का अर्थ अकर्मण्यता नहीं, बल्कि कर्म के फलस्वरूप होने वाले बंधन का अभाव है क्योंकि कर्म अनासक्त होकर किया जाता है। अतः अनासक्त होकर कर्म करने वाला व्यक्ति कभी बंधन में नहीं पड़ता।

आचार्य रामानुज कहते हैं कि कर्म वस्तुतः आत्मज्ञान की आंतरिक स्थिति का प्रकाशन है। ज्ञानी व्यक्ति वही है, जो कि सच्चे कर्म में ही ज्ञान को देखता है। उसके लिए ज्ञान और कर्म दोनों एक साथ रहते हैं।[11]

भगवद्गीता के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में योगेश्वर कृष्ण द्वारा कर्मों के त्याग और निःस्वार्थ कर्म दोनों ही प्रशंसा किए जाने पर अर्जुन दुविधा में पड़ जाता है और इसके परिणामस्वरूप वह कृष्ण से प्रश्न करता है कि कर्मों के त्याग और निष्काम कर्म में कौन श्रेष्ठ है इसको मुझे सुनिश्चित रूप से बताइए? इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं–

''सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।''[12]

अर्थात् कर्मसन्यास और कर्मयोग दोनों ही आत्मा को मुक्ति के पथ पर ले जाने वाले हैं किन्तु इन दोनों कर्मों के त्याग देने की अपेक्षा निष्काम रूप से कम करना अधिक श्रेयस्कर है। सांख्य पद्धति में कर्म त्याग पर जोर दिया गया है और योग में सही भावना से कर्म करने पर आग्रह किया गया है। मूल में पहुंचकर दोनों एक ही हैं किन्तु योग मार्ग हमारे समक्ष अधिक स्वाभाविक रूप में आता है।

यदि यह आपत्ति की जाए कि कर्म करने से बंधन होता है, तो इस आक्षेप को भी अनासक्त भाव से किए हुए कर्म के विषय में नहीं लगाया जा सकता क्योंकि जो योगयुक्त हो गया है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, जिसने अपने मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण कर लिया है और सब प्राणियों में विद्यमान आत्मा से जिसका

तादात्म्य स्थापित हो गया है, वह सब कर्मों का कर्ता होने पर भी, उसके कार्य पाप–पुण्य की परिधि से बाहर हो जाते हैं।

"योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियाः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।"[13]

जब हम मोक्ष प्राप्त करने को इच्छुक होते हैं तब आंतरिक त्याग की सही भावना से किया गया कार्य हमारे लिए सहायक होता है और जब हमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब किसी की प्राप्ति हेतु कर्म नहीं करते अपितु परमात्मा की चेतना में अवस्थित होने के नाते कर्म करते रहते हैं। इस प्रथम कोटि के कर्मों के द्वारा आत्म नियंत्रण प्राप्त करने के लिए संघर्षरत रहते हैं और आत्म नियंत्रण प्राप्त कर लेने के बाद स्वाभाविक है कि हमें शांति मिले। लेकिन इसका अर्थ नहीं है कि तब हम सारे कर्मों को छोड़ दें। बल्कि सच्चा योगी वह है जो कर्म करता रहता है। कर्मयोगी कर्म का त्याग पूर्ण रूप से नहीं करता बल्कि कर्मों को संयम करता है। अन्य शब्दों में जब चित्त सभी इच्छाओं से रहित होकर केवल आत्मा में अवस्थित हो जाता है, तब वह योग युक्त कहलाता है।

सार–रूप में शास्त्र की भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है, कर्मयोग साधना भी है और निष्ठा भी। आधुनिक समय में स्वार्थलिप्त मनुष्य जो भौतिक सुखों की कल्पना में उचित–अनुचित कार्यों में लिप्त है। यदि वह 'कर्मयोगी' बनकर कर्म करे तो अवसाद और चिन्ता से मुक्त हो जाए। अतः गीता का कर्मयोग हर युग में प्रासंगिक है।

संदर्भः

1 गीता, 2/47

2 गीता, 2/48

3 गीता रहस्यः बी.जी. तिलकः प्रकाशक तिलक मंदिर, पूना–30

4 गीता, 3/4

5 Talks on the Gita, Bhave, Vinoba, Sarva Sewa Sangh Prakashan, Varanasi, 1970

6 गीता, 3/8

7 गीता, 3/19

8 गीता, 3/20

9 गीता, 3/22

10 गीता, 4/20

11 भगवद्गीता, राधाकृष्ण

12 गीताः .5/2

13 वही, 5/7

एसोशिएट प्रोफेसर,
सत्यवती महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

♦♦♦♦♦♦♦